जैनधर्म : स्वरूप एवं उपादेयता

—महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

[सुख्यात तत्त्वचिन्तक तथा यशस्वी कवि, लेखक एवं प्रवचनकार]

"जैन" शब्द की निष्पत्ति "जिन" से है। "जिन" का तात्पर्य उन महापुरुषों से है, जिन्होंने अपने असीम आत्मबल को उद्‌बुद्ध कर राग तथा द्वेष आदि को जीता। उन जिनों द्वारा जो अनुभूत सत्य प्रकट हुआ, जो आचार-दर्शन प्रसृत हुआ, वही जिन-शासन है, जैनधर्म है। "जिनशासन" शब्द अपने-आप में बड़ी गुण-निष्पन्नता लिए हुए है। साम्प्रदायिक संकीर्णता के भाव से यह सर्वथा अतीत है। राग-द्वेष आदि अनात्मभावों के विजय को केन्द्र में रखकर जैन चिन्तनधारा तथा आचार-परम्परा का विकास हुआ है। यह एक ऐसा राजमार्ग है, जो व्यक्ति-मुक्ति से लेकर समाज-मुक्ति तक प्रशस्त रूप में जाता है। जैनत्व वास्तव में एक व्यसन-मुक्त, अहिंसक और स्वस्थ-समाज की रचना का जीवन्त तरीका है। यह परम श्रेय के प्रति समर्पित एक नैतिक अनुष्ठान है।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है। कुछ समय पूर्व आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर को जैनधर्म का आविर्भावक मानते रहे थे, किन्तु अब ज्यों-ज्यों समीक्षात्मक, तुलनात्मक अध्ययन का विकास होता जा रहा है, विद्वानों की मान्यताएँ परिवर्तित होती जा रही हैं। भगवान् पार्श्वनाथ जो जैन-परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर थे तथा बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि जो कर्मयोगी कृष्ण के चचेरे भाई थे, ऐतिहासिक पटल पर लगभग स्वीकृत हो चुके हैं। इतना ही नहीं ऋग्वेद, भागवत् आदि में प्राप्त वर्तमान अवसर्पिणी कालखण्ड के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ की ऐतिहासिकता भी उजागर हो रही है। जैन वाङ्मय तथा वैदिक वाङ्मय में भगवान् ऋषभ के व्यक्तित्व का जैसा निरूपण हुआ है, वह बहुलांशतया सादृश्य लिये हुए है। ऐतिहासिक खोज ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगी, अनेक अपरिज्ञात तथ्य और प्रकाश में आते जायेंगे, ऐसी आशा है।

जैन दर्शन व्यक्तित्व-निर्माण में जिन महत्वपूर्ण उपादानों को स्वीकार करता है, उनमें पूर्वार्जित संस्कारों का अत्यन्त महत्व है। उच्च संस्कार प्राप्त व्यक्तियों की एक विशिष्ट परम्परा स्वीकृत रही है। वैसे पुरुष "शलाका-पुरुष" कहे जाते हैं। शलाका-पुरुष का आशय उन व्यक्तियों से है, जो अपने पराक्रम, ओज, तेज, वैभव तथा शक्तिमत्ता के कारण असाधारणता लिये होते हैं। वे त्रेसठ माने गये हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव तथा ९ बलदेव। इनमें चौबीस तीर्थंकर धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से चरम प्रकर्ष के प्रतीक हैं तथा उनके अतिरिक्त ३९ लौकिक वैभव, ऐश्वर्य, शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा भोग-प्राचुर्य के संवाहकत्व के नाते विशिष्ट हैं। उनमें वैभव आदि की, अपनी-अपनी पुण्य-संचय के अनुसार, न्यूनाधिकता है। वैभव, शक्ति आदि की दृष्टि से चक्रवर्ती सर्वोपरि है। आध्यात्मिक एवं लौकिक सामंजस्य का यह एक अद्भुत रूप है, जिसे जैन परम्परा ने बड़े समीचीन रूप में उपस्थित किया है। इन शलाका-पुरुषों/मानव-मनीषियों द्वारा ही मानवता के चिराग की धूमिल पड़ती ज्योति को नयी शक्ति दी जाती है।

जिस प्रकार जगत् अनादि अनन्त है, शलाका-पुरुषों की परम्परा भी अनादि अनन्त है। तीर्थंकर समय-समय पर धार्मिक प्रेरणा देते हैं, धर्म को सामूहिक या संगठनात्मक रूप प्रदान करते हैं। उसमें श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक, श्रमणोपासिका के रूप में चतुर्विध वर्गों का समावेश होता है। जैन परिभाषा में इसे तीर्थ कहा गया है। यह तीर्थ शब्द संघ के अर्थ में प्रयुक्त है। इस तीर्थ के प्रवर्तक को ही तीर्थंकर कहते हैं। धर्म यद्यपि साधना की दृष्टि से वैयक्तिक है, किन्तु वह समूह के साथ, किन्हीं विशिष्ट आचार-संहिताओं के साथ जो उसके मूल दर्शन पर समाश्रित होती है, समुदाय से जुड़ता है, तब वह सामाजिक या संघीय बन जाता है। वैयक्तिक के साथ-साथ धर्म का संघीय रूप परमावश्यक है। यह धर्म की संस्कृति, दर्शन तथा लोकजनीनता को संबल प्रदान करता है। यही वह आधार है, जिस पर किसी भी धर्म की वैचारिक सम्पदा और साधना का अस्तित्व, विस्तार, विकास और संप्रसार टिका रहता है।

किसी भी धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और नैतिक सामाजिक विचार उसके पौष्टिक तत्व होते हैं। प्रायः विद्वान यह मानते हैं कि जैनधर्म के दार्शनिक और नैतिक विचार उत्कृष्टतम हैं। दुनिया में जैन उन कतिपय धाराओं में है जिनमें धर्म भी है और दर्शन भी। धर्म के दृष्टिकोण से वह सदाचार सिखाता है, दर्शन के दृष्टिकोण से सद्विचार का पाठ पढ़ाता है। जैन-दर्शन तो बड़ा अनूठा है। वह परम सांख्य और परम बौद्ध है। सम्पूर्ण सत्य और रहस्य को शब्दों और अंकों में बिठा देने की बौद्धिक स्पर्धा यदि किसी ने अथक प्रयास से की, तो वह जैन "दर्शन" ने। जैन-दर्शन गणित और विज्ञान की विजय का विस्मयकारी स्मारक है। गणनाबुद्धि की उसमें पराकाष्ठा है।

जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त पुरुषार्थवाद है। प्रत्येक आत्मा मूलतः परमात्मा है। राग-द्वेषजनित क्रोध, मान, माया, आदि कषायजनित कार्मिक आवरणों से इसकी शक्ति, इसका ओज, इसका ज्ञान विविध तरतम्यतापूर्वक आवृत रहता है। संवर और निर्जरामूलक साधना द्वारा इन कर्मावरणों के अपचय से आत्मा का शुद्ध स्वरूप अभिव्यक्त होता है। कार्मिक आवरणों का जब सर्वथा सम्पूर्णतः क्षय हो जाता है, तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाती है। इसे परमात्मा, परमेश्वर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। जैन-दर्शन में यही ईश्वर का स्वरूप है। ईश्वर एक नहीं है, सभी मुक्त आत्माएँ परम ज्ञान, परम आनन्द के अधिपति होने के नाते ऐश्वर्य या ईश्वरतायुक्त हैं।

जैन दर्शन सृष्टि को ईश्वरकृत नहीं मानता है। वह किसी ईश्वर को सृष्टि का सर्जक या उत्पादक नहीं मानता। आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध ही संसार है। जगत् की सारी गतिविधियाँ इसी पर आश्रित हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। इस सम्बन्ध को ध्वस्त एवं उन्मूलित करना प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य है।

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। आंशिक विप्लब के रूप में जो ध्वंस होता है, वह सामयिक है। मूलतः जगत् का सम्पूर्ण रूप में विनाश नहीं होता। जगत् में जड़-चेतनात्मक पदार्थ समाविष्ट रहे हैं और रहेंगे। जो चेतन पदार्थ या जीव जगत् में हैं, उन्हें संसारी जीव कहा जाता है। अपने-अपने आचीर्ण कर्मों के अनुसार वे गतिशील-क्रियाशील हैं। कर्मों का क्रम शृंखला रूप में उत्तरो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्तर गतिमान रहता है। इनके अतिरिक्त दूसरे वे जीव हैं, जो मुक्त हैं, सम्पूर्ण रूप में कर्मों का क्षय कर अपनी परम शुद्धावस्था प्राप्त कर चुके हैं। वे लोक के अग्रभाग में, सर्वोच्च भाग में संस्थित हैं; जिसे सिद्ध-स्थान या सिद्धशिला कहा जाता है।

संसार-चक्र में भ्रमण करते रहने का मुख्य कारण सत् तत्व के प्रति अनास्था है, जिसे जैन परिभाषा में मिथ्यात्व कहा जाता है। मिथ्यात्व का मूल उत्स एक उलझी हुई गांठ की ज्यों है, जिसे सुलझा पाना, सही स्थिति में ला पाना बहुत कठिन है। इसे मिथ्यात्व-ग्रन्थि या मिथ्यात्व रूप कर्म-ग्रन्थि कहा जाता है। स्वयं तथा अन्तः स्फूर्तिजनित उद्यम के परिणाम-स्वरूप जब मिथ्यात्व की ग्रन्थि खुल जाती है, तब जीव उस नये आलोक का अनुभव करता है, जिसे वह अब तक विस्मृत किये था, दूसरे शब्दों में जो अब तक आवृत था।

यह स्थिति जैन दर्शन में सम्यक्त्व के नाम से अभिहित हुई है। सम्यक्त्व साधना का प्रथम सोपान है। यह उसका मूल है। इसे साधे बिना साधक शुद्ध साधना की दृष्टि से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसके न होने से ज्ञान अज्ञान का रूप लिये रहता है, सदाचरण जीवन में यथावत् रूपेण समाहित हो नहीं पाता। अर्थात् ज्ञानाराधना और चारित्र-साधना दोनों असाधित रह जाती हैं।

जैनधर्म का मानना है कि सम्यक्त्व से रिक्त व्यक्ति चलता-फिरता "शव" है। सत्य तो यह है कि सम्यक्त्व ही जैनत्व की पहचान है। यही तो वह पगंडडी है, जो कमल की पंखुड़ी की भाँति निर्लिप्त और आकाश की भाँति स्वाधीन जीवन जीने की एक स्वस्थ जीवन-शैली दर्शाती है।

सम्यक्त्व का दिव्य प्रकाश स्वायत्त हो जाने पर साधक सच्चा परीक्षक बन जाता है। वह देव, गुरु तथा धर्म को भली-भाँति पहचान लेता है कि सच्चे देव वे हैं, जिन्होंने राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, एवं लोभ आदि आत्म-विकारक अवगुणों का सर्वथा नाश कर दिया है, जो परम शुद्ध परमात्म-भाव में संस्थित हैं। गुरु वे हैं, जिनके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का समग्र रूप में क्रियान्वयन है; जो आत्मकल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण में भी अभिरुचिशील है। जो संयम, साधना और तपश्चरण से जुड़ा है; जिसमें अहिंसा मौलिक पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकृत है। अहिंसा में सहजरूपेण सत्य आदि का समावेश हो जाता है।

संस्कृति और नीति के क्षेत्र में भी जैनत्व विश्व चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है। जैन नीति सिखाती है कि औरों को मत सताओ, सच बोलो, चोरी मत करो, जरूरत से ज्यादा सामान मत रखो, दूसरों की स्त्रियों को या पुरुषों को बुरी नजर से मत देखो। ये वे मील के पत्थर हैं, जो नैतिकता के मार्ग पर चलने वाले को गुमराह नहीं होने देते। संसार का कोई भी चिन्तक या धर्म ऐसा नहीं है; जो जैन-नीति की इन बातों को गलत बता सके।

वस्तुतः जैन धर्म के प्रवर्तकों का लक्ष्य मानवमात्र में आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि, जीवन-शुद्धि की मशाल जलाना रहा है। इसलिए जैनधर्म ने खान-पान में, भोगों में, वाणी में संयम रखने की प्रेरणा दी। साम्यवाद एवं समभाव की स्थापना के लिए ही अहिंसा पर जोर दिया गया। हिंसा और मांसाहार जैसी अशुद्ध परम्पराओं के प्रभाव से ही मनुष्य क्रूर, बेरहम, निर्दय और हृदय-हीन बनता है। जैनधर्म का मानना रहा है कि शाकाहार जीवन-शुद्धि का एक मानवीय गुण है, जो तामसी-वृत्तियों को जन्म लेने में अवरोध पैदा करता है।

जैनधर्म ने विश्व-कल्याण की उदात्त भावना के प्रसार के लिए ही अपरिग्रह को प्रत्येक जैन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए अनिवार्य व्रत बनाया। सत्य और अचौर्य की ओर जन-चेतना को प्रेरित कर जैनधर्म ने न्याय की तुला का जीर्णोद्धार किया।

जैनधर्म के वर्तमानकालीन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने राजतन्त्र, अर्थतन्त्र, प्रजातन्त्र और आत्मतन्त्र जैसे स्वच्छ शुद्ध तन्त्रों की स्थापना की। यद्यपि जैनधर्म में उक्त चारों तन्त्रों को अपेक्षित महत्व दिया गया, किन्तु आत्मतन्त्र सच्चिदानन्द स्वरूप में है, सत्य, शिव, सुन्दर रूप है।

सत् तत्व के स्वीकार और साधनगत तत्वों के अवबोध के साथ-साथ क्रियान्विति का प्रसंग आता है वहाँ आत्म-भाव में अवस्थिति तथा अनात्म-भाव या विभाव से पृथक्करण का प्रयत्न गतिशील होता है, जो जैनदर्शन की भाषा में विरति या व्रत कहा जाता है। जब सत् को स्वीकार करते हैं, सहज रूप में असत् छूटता है। असत् के साथ चिरन्तन लगाव होने के कारण उसे छोड़ पाना बहुत कठिन होता है। इसलिए उसके छोड़ने पर विशेष जोर देने हेतु निषेधमुखी या परित्याग-मुखी भाषा का प्रयोग होता है। जैसे अमुक-अमुक कार्यों का त्याग करता हूँ। अपने-आप में आने के अतिरिक्त त्याग और कुछ नहीं है। अहिंसा या सत्य जो आत्मा के अपने भाव हैं, संस्थित होते ही हिंसा या असत्य का परिहार स्वयं हो ही जाता है।

साधना के दो रूप हैं—समग्र तथा आंशिक। समग्र साधना सर्वथा आत्मोन्मुखी होती है। उसमें व्रत स्वीकार निरपवाद होता है। इन साधकों द्वारा स्वीकृत व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। वे महान् इसलिए हैं कि उनकी समग्रता विखंडित नहीं है। ऐसे साधक, श्रमण, मुनि, अनगार या भिक्षु कहे जाते हैं। सब में ऐसी आत्म-शक्ति नहीं होती, अतः जैनधर्म में आंशिक साधना का भी विधान है। वहाँ व्रतों की स्वीकृति स्वीकर्ता की आत्म-शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अंशतः होती है। अपवादपूर्वक या छूट के साथ वहाँ व्रतों का परिग्रहण होता है। यह साधना गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध है। गृहस्थ-साधक श्रमणोपासक या श्रावक कहा जाता है। इसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं, जिनका गुणव्रतों तथा शिक्षा-व्रतों के रूप में विस्तार है। अणुव्रतादि का पालन करने से व्यक्ति साधना-पथ पर तो बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता ही है, साथ ही साथ समाज में नैतिकता के प्रसार में अपनी भूमिका निभाता है।

यद्यपि जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है, किन्तु वह प्रवृत्ति मार्ग का निषेध नहीं करता है। जैनधर्म मानता है कि निवृत्ति को लोक कल्याण की भावना से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। निवृत्ति का उद्देश्य अशुभ से हटना होना चाहिए और प्रवृत्ति का उद्देश्य शुभ से जुड़ना। निवृत्ति को व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिए अपनानी चाहिए और प्रवृत्ति में क्रियाओं का सम्पादन विवेकपूर्वक करना चाहिए।

इस प्रकार निवृत्ति-साधना/मुनि-साधना और प्रवृत्ति-साधना/गृहस्थ-साधना के रूप में चारित्रिक आराधना के ये दो क्रम हैं। ये सम्यक् रूप से उत्तरोत्तर प्रगति करते जायें, यह वांछनीय है। किन्तु कुछ ऐसी दुर्बलताएँ हैं, जिनके कारण कदम-कदम पर बाधाएँ आती रहती हैं। वे दुर्बलताएँ क्रोध, मान, माया तथा लोभ के रूप में विभाजित हैं, जिन्हें कषाय कहा जाता है। सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र प्राप्त कर लेने पर भी ये भीतर ही भीतर उज्जीवित रहते हैं तथा साधक को विचलित करते हैं। अतः व्रत-पालन के साथ-साथ इनको क्षीण करने के लिए भी साधक को सतत् समुद्यत रहना आवश्यक है। नैतिक प्रगति के लिए कषाय-विजय अनिवार्य है। कषाय-विजय का उपक्रम ही जैनदर्शन में गुणस्थानों के रूप में व्याख्यात हुआ है। गुणस्थान और कुछ नहीं, मात्र आत्म-विकास की उत्तरोत्तर विविध भूमिकाओं का परिचायक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व वासना या आसक्ति है। यह चिरकालीन संस्कारजनित है। इसे निर्मूल करने के लिए सबसे पहले मन को परिमार्जित करना अपेक्षित है। मानसिक संमार्जन हेतु जैन धर्म में द्वादश अनुप्रेक्षाओं/भावनाओं का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी है। भावना तथा चिन्तना में एक अन्तर है। चिन्तना किसी विषय को सोचने तक सीमित है, जबकि भावना उसमें पुनः पुनः अवगाहन, आवर्तन तथा तदनुरूप अनुभव से सम्पृक्त है। भावनाओं के विधिवत अभ्यास से चिरसंचित वासनाएँ ध्वस्त हो सकती हैं।

जैनधर्म ने मन की वासनादिपरक अशुभ वृत्तियों के परिमार्जन और शुभ वृत्तियों को आत्म-स्वरूप की ओर दिशा प्रदान करने के लिए ही योग और ध्यान जैसे रास्ते बताये। मन, वचन, काया के योगों से उपरत होकर आत्मपथ पर योजित होना ही योग है। ध्यान इस यौगिक सफलता की कुञ्जी है। ध्यान वास्तव में अन्तर्यात्रा है। मन, वचन, काया के योगों का स्थिरीकरण ही ध्यान है। मानसिक वृत्तियों को बाहरी भटकाव से अन्तरात्मा की ओर मोड़ना ध्यान की सहज प्रक्रिया है। ध्यान अध्यात्म का प्रवेश-द्वार है और अध्यात्म शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान है।

जैन धर्म नैतिक जीवन का साध्य मोक्ष मानता है। मोक्ष वास्तव में संघर्ष का निराकरण एवं समत्व का संस्थापन है। इस मंच पर पहुँचने के लिए जैनधर्म सोपान है। यह बन्धन से मुक्ति की ओर जाता है। मोक्ष व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूर्णता का परिचायक है।

आध्यात्मिक उपासना के लिए तत्वज्ञान तथा तत्वानुशीलन उपादेय है। तत्वानुशीलनपूर्वक आचीर्ण धर्म संचालित क्रिया-प्रक्रिया का अपना असाधारण महत्व और प्रभाव होता है। इससे अन्तर्मन विमल और निर्ग्रन्थ बनता है।

यदि हम जिनशासन के तत्वदर्शन पर विचार करें, तो लगेगा कि वह काफी वैज्ञानिक है। जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत तत्व, पदार्थ भी अनेक दृष्टियों से विज्ञान-सम्मत तत्त्वों एवं पदार्थों से मेल खाते हैं। विज्ञान का मूल आधार भौतिकवाद है। जैन दर्शन में भूत (मैटर) के लिए पुद्गल शब्द का व्यवहार हुआ है। इसके मूल में पूरण और गलन, बढ़ना-घटना है, जिसका तात्पर्य उसकी अनेक रूपों में परिणति है। पुद्गल की सबसे छोटी इकाई परमाणु है। परमाणु अविभाज्य है। विज्ञान जिसे एटम कहता है, वह वास्तव में परमाणु नहीं है, वह स्कन्ध या वैज्ञानिक भाषा में मोलीक्यूल है। आज जो परमाणविक ऊर्जा उपलब्ध है, वैज्ञानिक उसे परमाणु विखण्डन से कहते रहे हैं, जो वास्तव में स्कन्ध के विखण्डन से प्रगट हुई है। जैन दर्शन परमाणुवाद में जिस सूक्ष्मता में गया, विज्ञान उधर गतिशील है, ये दोनों के सुखद समन्वय की दिशा है।

इसी प्रकार अनेकान्त तथा स्याद्वाद जैनधर्म की अनुपम देन है। पदार्थ का स्वरूप अपने में गुणों की अनेकता समेटे है, जिसे एक साथ प्रकट नहीं किया जा सकता। इसके आधार पर जैन दर्शन में तत्त्व को समझने और विवेचित करने में जिस पद्धति को स्वीकार किया गया है, वही अनेकान्त और वचन-प्रयोग की दृष्टि से स्याद्वाद का रूप लेती है। इसे सात प्रकार से कहा जाता है। जहाँ पदार्थ के अपने स्वरूप के सद्भाव, दूसरे के असद्भाव तथा दोनों एक साथ कहे जाने में अवक्तव्यता का आधार लिया गया है। यों भेद में अभेद सध जाता है। स्याद्वाद का बोध करने के लिए जैन दर्शन का प्रमाण-वाद व नयवाद सहायक है। इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता व उपादेयता विश्व के सबसे बड़े वैज्ञानिक अल्बर्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आइन्सटीन की "थ्योरी ऑफ रिलेटीविटी" से सिद्ध होती है। विभिन्न वाद और वैचारिक वैषम्य के समाधान के लिए इस सिद्धान्त की उपादेयता असन्दिग्ध है।

पदार्थ-विज्ञान को समझने के लिए जैन दर्शन का त्रिपदी-सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है। वस्तुतः जैन दर्शन के विवेचन का मूल आधार ही त्रिपदी है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता—त्रिपदी के तीन आधार हैं। अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से कोई भी पदार्थ कभी मिटता नहीं, केवल रूप बदलता है। रूप बदलने में पहला रूप मिट जाता है, नया रूप प्रकट होता है। प्रकट होते नये रूप को उत्पत्ति, मिटते हुए पुराने रूप को विनाश कहा जाता है। उत्पत्ति और विनाश दोनों को लिये हुए स्थिति ध्रुवता नित्य विद्यमान रहती है।

जिस वनस्पति-जगत का हम उपयोग करते हैं, वह वास्तव में है क्या—इस पर जैन चिन्तकों की देन सर्वथा मौलिक है। जैन चिन्तकों के अनुसार वनस्पति जगत सप्राण, सजीव, अनुभूतिशील, स्पन्दनशील है। उसकी भी जीवन-धारा अन्य प्राणियों की ज्यों विविध स्पन्दनों के रूप में विचित्रता लिये हुए है। वनस्पति पर बहुत सूक्ष्म विवेचन देने का जैन चिन्तकों का लक्ष्य यह रहा कि उसके उपयोग में मनुष्य जहाँ तक सध सके, हिंसा से अधिकाधिक दूर रहे। जैन दर्शन में इस सम्बन्ध में हुए ऊहापोह गहराई में न जाने वाले लोगों को कल्पित से लगाते थे, किन्तु उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने गहन गवेषणा के द्वारा वह सब सिद्ध कर दिया।

जैन दर्शन ने जिन तत्वों की चर्चा की हैं, उनमें आत्म-तत्व मुख्य है। आत्मवाद की शाश्वतता ही जीवन का रहस्य है। संसारी आत्मा जन्म, सुख, दुःख, मरण आदि से जुड़ी हैं। जन्म और मरण आत्मा के कर्मजनित रूप-परिवर्तन के आयाम हैं।

तात्विक स्वाधीनता जैनधर्म की अस्मिता है। इसके अनुसार स्वाधीनता-स्वतन्त्रता लोक का और लोक की रचना करने वाले प्रत्येक तत्व का सहज गुण है। किसी भी द्रव्य ने ऐसा अस्तित्व नहीं पाया, जो किसी और के पराधीन हो, हो सकता हो, किसी और की स्वाधीनता छीन सकता हो। अपनी इस स्वाधीनता को खोजने और उसे एकाग्र अखण्ड रूप देने के लिए समर्पित होना ही साधना है, यही जैन धर्म की तात्विक मीमांसा की आधारशिला है।

जैन धर्म ने जीवात्मा, पुद्गल-परमाणु आदि षट-द्रव्यों का विवेचन करके उनके संयोग एवं विभाग द्वारा विश्व-सृष्टि की जो अवधारणा प्रस्तुत की, वह भी विज्ञान से तुलनीय है।

अतः कहा जा सकता है, जैन संस्कृति, जैन दर्शन की धारा बड़ी समृद्ध परम्परा है। जैसे सूर्य सबके लिए प्रकाशक है, वैसे ही जिनशासन/जैन धर्म है, सबके लिए कल्याणकारी, अमृततुल्य। जिन-शासन के धर्म-संघ/तीर्थ में आने से पूर्व चाहे कोई किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग आदि के घेरे में रहा हो पर इसमें सम्मिलित होने के बाद कोई भेद-भाव नहीं रहता। सब एक हो जाते हैं, समान हो जाते हैं।

संक्षेप में, जैनधर्म की मूलभूत सिखावन यही है कि व्यक्ति को "खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ" की भौतिक भूमिका अथवा बाह्य जीवन से ऊपर उठकर आभ्यन्तर जीवन का दर्शन करना चाहिये और विवेकपूर्वक श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र रूप त्रिविध साधना-मार्ग में विचरण करना चाहिये। इस पर विहार करके ही व्यक्ति वीतराग बन सकता है, 'अर्हत्'—अरिहन्त पद प्राप्त कर सकता है। अतः वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनाग्रह और वैयक्तिक जीवन में अहिंसा को ही महत्व देना चाहिये। संक्षेप में यही जिनशासन है, जैन धर्म है। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org